IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

संस्कृति के विधायक तत्त्व

डॉ. सीमा रानी

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग

राजकीय महाविद्यालय, दुजाना, जिला- झज्जर, हरियाणा

'संस्कृति' शब्द का निर्वचन

संस्कृति शब्द संस्कृत के 'सम' उपसर्ग के साथ 'कृ' धातु में 'सुट्' आगम पूर्वक 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। इसका मूल अर्थ साफ या परिष्कृत करना है। इसमें संस्कार करने अथवा किसी वस्तु को संस्कृत रूप देने की क्रिया या भाव निहित है। 'सम्' उपसर्ग तथा 'कृ' धातु के योग से निष्पन्न 'सरिक्रया' , 'संस्कार' तथा 'संस्कृत' शब्द भी उपलब्ध होते हैं 'सरिक्रया' से तात्पर्य शुद्धि अथवा परिष्कार की क्रिया है। अतः स्पष्ट है कि संस्कृति तथा सरिक्रया में कारण एवं कार्य का सम्बन्ध है कोई आधारभूत अन्तर नहीं है। 'संस्कार' का अर्थ है 'मन' , 'रुचि' आचार-विचार आदि को परिष्कृत तथा उन्नत करने का कार्य। इन्ही सरकारों की क्रिया द्वारा उत्तम या परिष्कृत की हुई कृति या रचना 'संस्कृत' शब्द से अभिहित की जाती है। सम्पूर्ण मानव जीवन की सम्यक् व्यवस्था के लिए भारतीय मनीषियों ने सोलह संस्कारों की योजना की है। इनका लक्ष्य 'व्यक्तित्व' के विकास द्वारा मनुष्य का कल्याण और समाज तथा विश्व से उसका सामजस्य स्थापित करना था।

संस्कृति के व्यावहारिक अर्थ को समझने के लिए इसके इतिहास पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। संस्कृति शब्द को प्रथम प्रयोग यजु : संहिता में उपलब्ध होता है। वहाँ यह शब्द देवताओं को सोम प्रदान करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वेद में सोम मनस्तत्व का प्रतीक है। इसके संयोग में प्राण और भूत में गीत की जो दशा निर्धारित होती है, उससे विश्व का स्वरूप बनता और निखरता है। यही मनोयोग का भाव सोम के सेवन पान और प्रदान में निहित है। यही किया 'संस्कृति' नाम से अभिहित की गयी है। शतपथ ब्राह्मण में 'संस्कृति' शब्द एक विशिष्ट आचार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिसका अभिप्राय अग्नि अथवा प्राणशक्ति की क्षमता को बढ़ाना है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य में 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग यद्यपि देवी क्रिया-कलापों के अर्थ में हुआ है तथापि इसका भावार्थ आत्मा एवं प्राणों की शक्ति का संवर्धन एवं उन्नयन है।

संस्कृति की परिभाषा

संस्कृति को विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से परिभाषाबद्ध करने का प्रयत्न किया है ये परिभाषाएँ संख्या में तो अत्यधिक हैं ही अपने केन्द्रीभूत भाव में भी इतनी पृथक-पृथक है कि कई बार तो परस्पर विरोधी सी प्रतीत होने लगती है। ऐसी स्थिति में 'संस्कृति' की एक सर्वमान्य परिभाषा देना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसके लिए सर्वप्रथम विभिन्न विद्वानों के द्वारा की गई परिभाषाओं के आधार पर संस्कृति के सामान्य स्वरूप से परिचित होना आवश्यक है।

प्रसिद्ध मानवशास्त्री टायलर ने संस्कृति की परिभाषा देते हुए कहा है कि संस्कृति वह जटिल समग्रता है, जिसमें 'ज्ञान' , 'विश्वास' , 'कला' , 'आचार' , 'कानून प्रथा' तथा ऐसा ही अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है, जिन्हें मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।

उपर्युक्त परिभाषा में संस्कृति के विषय में निम्नलिखित तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है-

1. संस्कृति का उद्गम एवं विकास मनुष्य समाज में ही सम्भव है। अतः - मानव के जन्म के साथ ही संस्कृति का भी प्रारम्भ माना जाना चाहिए।

2. मनुष्य सामाजिक प्राणी है और संस्कृति भी उसे सामाजिक विरासत के रूप में प्राप्त होती है। अतः संस्कृति के निर्माण में एक व्यक्ति का नहीं, अपितु समस्त समाज का योग होता है।

3. संस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, जिसमें समाज से गृहीत प्रत्येक क्षमता एवं आदत समाहित हो जाती है।

4. संस्कृति में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होने का गुण है। हर्सक विट्स के विचार संस्कृति पर्यावरण का मानव निर्मित भाग है। उपर्युक्त परिभाषा से दो तथ्य प्रकट होते हैं। प्रथम तो मानव-जीवन दो प्रकार के पर्यावरणों में पलता है प्रथम प्राकृतिक वातावरण और द्वितीय सामाजिक वातावरण सामाजिक पर्यावरण का निर्माण मनुष्य स्वयं करता है। प्राकृतिक पर्यावरण के योग से मनुष्य जो कुछ भी निर्माण करता है, वह उसकी अपनी रचना होती है और इस रचना का सम्बन्ध समाज से होता है। यह रचना भौतिक भी हो सकती है और अभौतिक भी। दोनों ही प्रकार की रचनाएँ संस्कृति का अंग है।

संस्कृति के विधायक तत्त्व

मनुष्य को अधोगति से उर्ध्वगति की ओर ले जाने की प्रक्रिया में संस्कृति स्वयं को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करती है। इनमें से प्रमुख तत्त्व हैं दर्शन, नैतिकता, धर्म, भक्ति, पौराणिकता, सौन्दर्य-भावना तथा प्रेमभावना। इन्हें ही संस्कृति के उपजीव्य तत्त्व कहा जाता है। ये सभी तत्त्व एक ओर जहाँ संस्कृति के अंग हैं, वहीं दूसरी ओर संस्कृति के संवाहक भी हैं। इनके माध्यम से संस्कृति की अभिव्यक्ति भी होती है ओर इन्हीं के माध्यम से संस्कृति का विकास भी होता है।

1. संस्कृति और दर्शन

संस्कृति तथा दर्शन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'दर्शन' शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है - दृश्यते अनेन इति दर्शनम - जिसके द्वारा देखा जाए। देखने का स्थल साधन नेत्र हैं। नेत्र से तात्पर्य है दृष्टि अर्थात जीवन एवं जगत् के दृश्य एवं अदृश्य रूपों को अपनी दृष्टि के आधार पर देखना ही दर्शन है, किन्तु दर्शन के अन्तर्गत यह दृष्टि सामान्य दृष्टि नहीं होती। इसके अन्तर्गत मनुष्य जीवन एवं जगत् के सत्यभूत तात्त्विक स्वरूप का निरीक्षण एवं परीक्षण अपनी बुद्धि के आधार पर करता है। दार्शनिक

की निजी अन्तर्दृष्टि तथा तर्क-पद्धति की प्रधानता होने के कारण वस्तु का सूक्ष्म रूप भी विभिन्न दार्शनिकों की प्रतिभा से तादात्म्य होने पर भिन्न-भिन्न रूप धारण करता चलता है। यही कारण है कि विभिन्न दार्शनिकों के मत सदैव समान नहीं होते। भारतवर्ष के षड्दर्शन इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। 'प्रत्येक' मानव दृश्य या अदृश्य -विषयक कतिपय श्रद्धाओं, विचारों तथा कल्पनाओं का एक समदाय मात्र है। जगत्- निखिल मानवीय कार्यविधानों की आधारशिला मानवीय विचार है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का 'दर्शन' होता है चाहे वह उसे जाने या न जाने ।इस प्रकार दर्शन जीवन से पूर्णतया सम्पृक्त है। वस्तुतः 'जीवन' का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना ही दर्शन का ध्येय है । जीवन से सम्बन्धित जितने भी आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक पदार्थ हैं उनका तात्त्विक विश्लेषण करना भी दर्शन का कार्य हो जाता है। संस्कृति मनुष्य के जीवन से सर्वथा सम्बद्ध है । 'संस्कृति' स्वयं में जीवन के अर्थ के प्रति विशद संचेतना, विश्व की समस्याओं का व्यवस्थित एवं सापेक्ष महत्त्व की दृष्टि से विशद सर्वेक्षण और उत्तम वस्तुओं के विवेक संगत चयन को स्वयं में समाहित भी करती है और इन्हें क्रियान्वित भी करती है। संस्कृति का उद्देश्य मनुष्य के विचार तथा आचार का परिमार्जन करते हुए उसे पशुता से मनुष्यता की ओर अग्रसर करना है। मनुष्य जितना ही अधिक संस्कृत होगा उसकी अन्तर्दृष्टि भी उतनी ही अधिक स्वस्थ, सन्तुलित एवं उदात्त होगी, जिससे ऐसे उच्च कोटि के दर्शन की रचना हो सकेगी, जो मानव-जीवन को समुन्नत तथा उत्कृष्ट बनाने में सफल होगा, संस्कृति भी उतनी ही अधिक सम्पन्न तथा समृद्ध होती जायेगी। इस प्रकार जहाँ एक ओर दर्शन संस्कृति का अंग है, वहाँ दूसरी ओर संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम भी है। अतः निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि दर्शन संस्कृति का अविभाज्य अन्तर्वृत्ति तत्त्व है ।

2. संस्कृति और नैतिकता अथवा जीवन-मूल्य

नैतिकता अथवा जीवन-मूल्य संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। नैतिकता का अर्थ नीति का अनुसरण करना है। नीति से तात्पर्य है ऐसा आचार-व्यवहार जो सब की दृष्टि में लोक या समाज के कल्याण के लिए आवश्यक अथवा उचित ठहराया गया हो । नीति शब्द 'नी' धातु में 'क्तिन' प्रत्यय जुड़ने से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है आगे की ओर ले जाना ।इस प्रकार नीति मानवीय आचारों की समष्टि है, जो मानव-जीवन को अग्रसर करती है। संक्षेप में नीति मंगल-विधान की व्यापक व्यवस्था है, जिसके माध्यम से अगति और दुर्गति से मुक्त होकर सद्गति की मांगलिक दिशा में उन्मुख होता है। 'मानव' समाज को श्लाघनीय एवं सुव्यवस्थित पथ पर अग्रसर करने तथा उसके प्रत्येक व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सम्यक एवं सुगमता से उपलब्धि कराने के हेतु विधि अथवा निषेधात्मक वैयक्तिक एवं सामाजिक नियमों का विधान जो देश, काल एवं पात्र को लक्ष्य में रखकर बनाया जाता है। लोक-व्यवहार की दृष्टि से जब करणीय-अकरणीय का विवेक मनुष्य में जागृत होता है, तब उसमें नैतिकता का उदय होता है। अतः नैतिकता के अन्तर्गत उन समस्त सद्व्यवहार एवं सदाचार की रीतियों को ग्रहण किया जाता है, जो मानव-जीवन की जटिलता में समृद्धि एवं विकास का मार्ग प्रशस्त करती है। इन्हें ही दूसरे शब्दों में जीवन-मूल्य कहा जाता है। मूल्य वह गुण या तत्त्व है, जिसके कारण किसी वस्तु का महत्त्व या मान होता है। इसे रचना के भीतर वर्तमान रहने वाला ऐसा उद्देश्य भी माना जाता है, जो उसे किसी सामाजिक आदर्श अथवा व्यक्तिगत उच्चता से जोड़ता है। वस्तुतः मानव - मूल्य वे मानवीय गुण तथा व्यवहार हैं जो जीवन को अर्थवत्ता अथवा मूल्यवत्ता प्रदान करते हैं। ये ऐसे तत्त्व हैं, जो मानव जीवन में उत्कर्ष के विधायक हैं। संस्कृति स्वयं आदर्श मान्यताओं तथा जीवन-मूल्यों की समन्वित राशि है। नैतिकता अथवा जीवन-मूल्यों का आश्रय लेकर संस्कृति मनुष्य को यथार्थ से उठाकर आदर्श की ओर अग्रसर किए रखती है। अर्थ और काम संस्कार्य हैं और धर्म तथा मोक्ष के द्वारा इनका संस्कार होता है । धर्म - पालन के माध्यम से और मोक्ष-प्राप्ति की कामना से प्रेरित होकर

मनुष्य अर्थ और काम का स्वस्थ तथा नियन्त्रित रीति से उपभोग करता है। उसकी यह प्रक्रिया उसे कुत्सितता के गर्त में पतित होने से रोकती है और उदात्तता की ओर उन्मुख करती हैं 'मनुष्य' की यही नैतिक चेतना है जो उसे यह जानने की योग्यता भी देती है कि मनुष्य की आत्मा काल-भेद होने पर भी एक रस रहती है और यह भी कि मनुष्य स्वार्थ की परिधि में बंधकर अपना व्यक्तित्व खो देता है। संस्कृति जितनी ही अधिक समृद्ध एवं समुन्नत होगी, व्यक्ति, परिवार, समाज तथा विश्व के आचार-व्यवहार भी उतने ही अधिक उत्कृष्ट एवं पवित्र होंगे। ये आदर्श एक पीढ़ी तक ही सीमित नहीं रहते, आगामी अनेक पीढ़ीयाँ इनसे प्रेरणा ग्रहण करके अपने विचार तथा आचार का संस्कार करती चलती हैं। इस प्रकार नैतिकता अथवा जीवन-मूल्य सांस्कृतिक प्रक्रिया में योग देते हुए इसे निरन्तर ऊर्ध्वगमन की ओर गतिशील बनाए रखते हैं।

3. संस्कृति और धर्म

धर्म संस्कृति का एक विशिष्ट उपजीव्य तत्त्व है। धर्म शब्द की निष्पत्ति संस्कृत की 'धृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'धारण करना'। अतः धर्म का मूल अर्थ है जो धारण किया जाये अथवा जो व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को धारण करता है। यह सामान्य रूप से पदार्थ मात्र का वह प्राकृतिक तथा मूल गुण है, जो उसमें शाश्वत रूप से वर्तमान रहता है। किसी वस्तु का वस्तुत्व ही उसका धर्म कहा जाता है।... धर्म बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं। मनुष्य के सम्बन्ध में भी यही बात है। धर्म के बिना उसका भी अस्तित्व नहीं रह सकता।धर्म शब्द अत्यन्त व्यापक है। जीवन एवं जगत् के प्रत्येक क्षेत्र में उसे पृथक् रूप में ग्रहण किया जाता है। सामाजिक क्षेत्र में यह सर्वमान्य विचार एवं क्रियाओं के रूप में ग्रहण किया जाता है और लौकिक क्षेत्र में धर्म उन क्रियाओं के रूप में मान्य होता है जो किसी विशिष्ट स्थिति में आचरण के उपयुक्त मानी जाती हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में धर्म का अर्थ उपासना तथा विभिन्न अनुष्ठानों की पद्धति के रूप में मान्य है, जो किसी विशिष्ट देश, जाति तथा दर्शन के आधार पर गम्य होती है और उनका लक्ष्य किसी देवी-देवता अथवा परम सत्ता को प्रसन्न करना होता है। अन्य विद्वानों की दृष्टि में भी धर्म से तात्पर्य उसका आध्यात्मिक अर्थ ही है, जैसे डॉ. तिवारी ने धर्म को जीवन की एक अलौकिक आस्था के रूप में स्वीकार किया है, जिससे उनका तात्पर्य ईश्वर की उपासना करना है। यशदेव शल्य के अनुसार भी धर्म मानवीय अर्थ अथवा अन्वेषण के उस रूप को कह सकते हैं जो जीवन का लक्ष्य लोकोतर और परम चैतन्य की स्थिति की प्राप्ति को अथवा परम चैतन्य के बोध की योग्यता की प्राप्ति को स्वीकार करता है। वस्तुतः अपने संकीर्ण अर्थ में धर्म केवल सम्प्रदाय विशेष तक ही सीमित रह जाता है, किन्तु अपने व्यापक अर्थ में धर्म से तात्पर्य वे सामान्य मानवीय सिद्धान्त हैं, जो मानव को उसके कर्त्तव्य का बोध कराते हुए उसके मन, शरीर तथा आत्मा में उत्कर्ष प्रदान करते हैं। मन ने धर्म के लक्षण 'धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, विग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध' को स्वीकार किया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी धर्म के लगभग ये ही लक्षण स्वीकार किए गए हैं।[51] धर्म के ये सभी लक्षण मानव के सामान्य कर्त्तव्य ही हैं। अन्य कई लेखकों ने भी धर्म के अन्तर्गत मानवीय कर्त्तव्यों पर ही विशिष्ट बल दिया है, जैसे राम जी उपाध्याय का यह मत है कि दर्शन के द्वारा मानव को जो प्रकाश मिलता है, उसके आचार पर वह अपने लौकिक व्यवहार तथा चराचर के सम्बन्ध में अपने कर्त्तव्यों की जो दिशा बनाता आया है, वह धर्म है। सम्प्रदाय विशेष में भी इन मानवीय सिद्धान्तों का बहिष्कार नहीं किया जाता क्योंकि मनुष्य ही मनुष्य का प्राकृत धर्म है। यदि मनुष्यता उड़ गई तो फिर मनुष्य में पशुता के सिवाय और रहा ही क्या?

इस प्रकार से धर्म सांस्कृतिक प्रक्रिया में विशिष्ट योग प्रदान करता है, क्योंकि ये सर्वमान्य मानवीय सिद्धान्त केवल मानव-मन का ही परिष्कार नहीं करते, अपितु मनुष्य को आत्मिक उत्कर्ष भी प्रदान करते हैं। सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार आदि का अनुसरण करने से मनुष्य के केवल विचार ही शुद्ध नहीं होते, अपितु आचार भी पवित्र हो जाता है। विभिन्न अनुष्ठानों के

द्वारा शरीर तथा बाह्यपर्यावरण को शुद्ध करता हुआ धर्म एक महान सांस्कृतिक वातावरण की रचना करता है। विभिन्न उपासना पद्धतियों का लक्ष्य भी मानव विकारों का परिमार्जन करना है। धार्मिक अनुष्ठानों के कारण अधिकाधिक मनुष्य सम्पर्क में आते हैं, जिससे स्वस्थ सांस्कृतिक परम्पराओं का विकास होता है। वस्तुतः संस्कृति का धर्म के व्यापक अर्थ से तो स्पष्ट ही घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि वह सच्ची मानवता की उपलब्धि के लिए जीवन की गति या स्थिति ही तो है। डॉ. राधाकृष्णन् के विचार में धर्म वह अनुशासन है, जो अन्तरात्मा को स्पर्श करता है और हमें बुराई और कुत्सितता से संघर्ष करने में सहायता देता है, काम, क्रोध और लोभ से हमारी रक्षा करता है, नैतिक बल को उन्मुक्त करता है, संसार को बचाने के महान कार्य के लिए साहस प्रदान करता है। प्रस्तुत परिभाषा से स्पष्ट है। कि धर्म का कार्य भी संस्कृति के समान मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास करते हुए विश्व को अधोगति से सहमति की ओर ले जाना है। धर्म तथा संस्कृति, दोनों का ही लक्ष्य सच्ची मानवता की उपलब्धि है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए धर्म में निहित समस्त धारणाएँ एवं विश्वास संस्कृति के अंग के रूप में कार्य करते हैं और संस्कृति भी इनके माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करती हुई अधिकाधिक विकास, प्रसार तथा गौरव को प्राप्त करती है। गुलाबराय ने धर्म को संस्कृति से पृथक् माना है। उनके विचार में धर्म में श्रुति, स्मृतियों और पुराणग्रन्थों का आधार रहता है। किन्तु संस्कृति में परम्परा का आधार रहता है।. धर्म देश निरपेक्ष है, किन्तु संस्कृति का सम्बन्ध देश से अधिक है। यदि व्यापक रूप में देखा जाए तो उपर्युक्त अन्तर निरर्थक ही है, क्योंकि वेद पुराण आदि भी संस्कृति के ही अंग हैं और धर्म में निमित विधि-विधान प्रायः देश तथा जाति के आधार पर परम्परागत रूप से चले आते हैं। संस्कृति विचार तथा आचार में परिष्कार की क्रिया है, जो मत से भी सार्वभौम होती है। वाचस्पति गैरोला के मत से भी रस तथ्य की पुष्टि होती है कि वेदमूलक स्मृतियों तथा पुराणों द्वारा प्रतिपादित सदाचार ही धर्म है। सदाचार अर्थात् कर्त्तव्य इन कर्त्तव्यों का समुच्चय ही संस्कृति है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संस्कृति तथा धर्म में परस्पर पर्य- पूरक का सम्बन्ध है। संस्कृति के विकास के साथ-साथ धर्म का उन्नयन होता है और धर्म के उन्नयन के साथ संस्कृति समृद्ध होती है।

4. संस्कृति और भक्ति

भक्ति से तात्पर्य है अपने आराध्य के प्रति निष्ठा तथा विश्वास । नारद - भक्ति सूत्र के अन्तर्गत भक्ति को 'परम प्रेम रूपा' तथा 'अमृतस्वरूपा' कहा गया है। इस भक्ति को प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है। व्यास के अनुसार भगवान् की पूजा आदि में अनुराग होना भक्ति है। शाण्डिल्य के अनुसार आत्मरति के अवरोधी के विषय में अनुराग होना ही भक्ति है। आचार्य शुक्ल के विचार में भक्ति का स्थान मानव- हृदय है, वहाँ श्रद्धा और प्रेम के संयोग से उसका प्रादुर्भाव होता है। वस्तुतः भक्ति मानव हृदय की श्रद्धा एवं प्रेम से युक्त भाव-भूमि है, जिसके अन्तर्गत वह अपने इष्ट के स्वरूप से अपना पूर्ण तादात्म्य स्थापित करता है। उपासना शब्द भी भक्ति के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ है - निकट बैठना अर्थात् मानसिक रूप से अपने इष्ट का सान्निध्य प्राप्त करना। भक्ति में किसी ऐसे सान्निध्य की प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा हमारे महत्त्व के अनुकूल गति का प्रकार और प्रतिकूल गति का संकोच होता है। श्रवण, कीर्तन, संस्करण आदि के द्वारा जब मनुष्य निरन्तर इष्ट के गुणों के सम्पर्क में आने लगता है तो उसके अन्तःकरण में भी उन्हीं विशेषताओं का संचार होने लगता है। पूर्ण एकात्मभाव की स्थिति में स्वयं आराधक भी आराध्य स्वरूप हो जाता है। भारतीय दर्शन में 'अहम्ब्रह्मास्मि' के रूप में यही भावना व्यक्त की गई है। इस प्रकार से भक्ति मनुष्य के राग-द्वेषों का परिमार्जन करती हुई उसे निरन्तर उदात्तता की ओर अग्रसर किए रखती है। जितना ही अधिक मनुष्य के विकारों का उदात्तीकरण होता जाता है, उतना ही अधिक वह मनुष्य सुसंस्कृत होता जाता है।

संस्कृत व्यक्ति ही राष्ट्र को सांस्कृतिक गरिमा प्रदान करते हैं। इस प्रकार से भक्ति संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है । अन्तःकरण की शुद्धि का परमोत्कृष्ट साधन है।

5. संस्कृति और पौराणिकता

संस्कृति के वास्तविक स्वरूप से परिचित होने के लिए पुराण का अध्ययन आवश्यक है। पुराण का सामान्य अर्थ - पुराना। यास्क के मतानुसार पुराण शब्द की व्युत्पत्ति है पुरा नवं भक्ति। अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नवीन होता है। - पद्मपुराण में कहा गया है कि 'पुरा पुराणं तेन तत् स्मृतम्' अर्थात् पुरानी परम्पराओं की अभिव्यक्ति के कारण ही इसे पुराण कहा जाता है। पुराण के अन्तर्गत प्रकार के विषय समाहित होते हैं- सर्ग, प्रतिसर्ग, सृष्टि, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित । मुख्यतः पाँच वस्तुतः पुराण अति महत्त्वपूर्ण वाङ्मय है, जिसमें सृष्टि के आदिकाल से लेकर मनुष्य की समस्त परम्पराएँ तथा विभिन्न वंशावलियाँ अलौकिक एवं दिव्य घटनाओं से मंडित होकर समाहित हुई रहती हैं। सृष्टि के अज्ञात रहस्यों को जानने की उत्सुकता मानव-मन में अनेक प्रश्न उत्पन्न करती है। इसका समाधान वह अपनी कल्पना एवं अनुभव के माध्यम से खोज निकालता है। इस समाधान को विश्वसनीय बनाने के लिए अलौकिक एवं प्राकृतिक शक्तियों का आश्रय लेकर मनुष्य जो प्रतीकात्मक कथाएँ रचता रहता है, वही पौराणिकता की आधारभूमि है । इन कथाओं के माध्यम से मनुष्य की जिज्ञासा - तुष्टि तो होती ही है, उसकी मनोवृत्ति आदर्श एवं आकांक्षाओं का भी प्रकटीकरण होता है। अवतारवाद पुराणों का प्रमुख अंग है, जो मनुष्य की यथार्थ से ऊपर उठकर उदात्त आदर्श की ओर उन्मुख होने की भावना को प्रकट करता है। मानवीय गुणों का चरम विकास ही अवतारवाद की मूल भाव-भूमि है। प्रत्येक परिवार के अतिशय रूप-सौन्दर्य तथा कर्म-सौन्दर्य का चित्रण मनुष्य की बाह्य एवं आन्तरिक सौन्दर्य-चेतना को प्रकट करता है, जो सांस्कृतिक विकास द्वारा ही सम्भव है। पुराण धर्म के मूल तत्त्व दर्शन ओर नीति के प्रत्यक्षीकृत रूप हैं। पुराणों के माध्यम से प्रत्येक वर्ण एवं आश्रम के कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य का विवेक, सदाचार एवं नीति का बोध, योग तथा दर्शन आदि का ज्ञान उपलब्ध हो जाता है। वेद तथा उपनिषदों के अनेक जटिल विषय पुराणों में लघु कथाओं के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं, जो साधारण मनुष्य के लिए भी सहज रूप से बोधगम्य हैं। कथाओं के कारण प्रत्येक विषय इतना सुन्दर तथा रोचक बन गया है कि मनुष्य अनायास ही उनसे शिक्षा ग्रहण करके अपने राग-द्वेषों का परिमार्जन करने लगता है। पुराण भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है - वह आधारपीठ है जिस पर आधुनिक भारतीय समाज अपने नियमन को प्रतिष्ठित करता है। इन पुराणों में भिन्न-भिन्न कल्पों की कथाएँ है, ओर धार्मिक तथा सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से ये कथाएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें चित्रित सांस्कृतिक दृष्टिकोण एवं जीवन-मूल्य लोक-जीवन को स्थिरता तथा स्थायित्व प्रदान करते हैं।

पौराणिक आख्यान इतने रमणीय और अर्थपूर्ण हैं कि आवश्यकतानुसार के जीवन-बोध को अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं और अमरकोष में पुराण प्रत्येक युग के विषय में कहा गया है कि पराभवं यदा पुरापि नवं भवति यदा पुरा अतीतानगरो अर्थो अर्णात। अर्थात् पुराना होने से क्या पुराना भी नया होता है, यद्यपि पुराना है तथापि अतीत अनागत के अर्थों को समाहित किए हुए है। यही कारण है कि आधुनिक युग में भी इन आख्यानों के आधार पर नवीन काव्यों की रचना की गयी है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि संस्कृति या पौराणिकता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पुराण जहाँ एक ओर सांस्कृतिक मान्यताओं एवं आदशों के आगार हैं, वहाँ दूसरी ओर संस्कृति के विकास की प्रक्रिया में शक्तिशाली उपकरण का कार्य भी करते हैं। संस्कृति पौराणिकता के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करती है और पौराणिकता मानव के आचार एवं विचार का परिष्कार करती हुई संस्कृति को गौरव प्रदान करती है।

6. संस्कृति और सौन्दर्य भावना

मानव सौन्दर्यापासक प्राणी है। अपने चारों ओर सौन्दर्य का प्रसार देखकर उसे एक अद्‌भृत हार्दिक तुष्टि का अनुभव होता है किन्तु सौन्दर्य भावन मानव हृदय के अत्यन्त निकटवर्ती होते हुए भी इतनी सूक्ष्म है कि इसे परिभाषाबद्ध करना अत्यन्त कठिन है। विभिन्न लेखकों ने इसे विभिन्न ढंग से परिभाषित करने का प्रयत्न किया है, जैसे 'इन्द्रिय' बोध के आधार पर बाह्य वस्तु या आलम्बन के साथ द्रष्टा के मन की तदाकार परिणति अथवा पूर्ण तादात्म्य ही वास्तविक सौन्दर्य-बोध की चरम स्थिति है। किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी सत्ता बोध का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप में जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई हमारी सौन्दर्य की अनुभूति कही जाएगी। हमारे उपचेतन में कुछ संस्कार विद्यमान रहते हैं जो उत्तेजक वस्तु को देखकर देशकाल तथा पात्र आदि से सम्बद्ध होकर उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार उस उत्तेजक सामग्री के कारण होने वाले उपचेतन के आत्मलाभ का नाम ही सौन्दर्य है । अर्थात् सौन्दर्य से एक ओर संस्कारों का उद्बोध-ज्ञान होता है और दूसरी ओर उद्बोधक सामग्री की प्रतीति भी रहती है। 70 वस्तुतः किसीभी जड़ अथवा चेतन पदार्थ से आकृष्ट होकर मानव-मन का अपनी सत्ता को पूर्णतः विस्तृत करके उसी में लीन हो जाना ही सौन्दर्य की अनुभूति है। सौन्दर्य-भावना का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है, क्योंकि मानव-हृदय की ऐसी शाश्वत अनुभूति है जो सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक है । इस अनुभूति का विस्तार स्थल भौतिकता से लेकर आत्मा-परमात्मा के सूक्ष्मतम रूप तक देखा जा सकता है। यही कारण है कि सांस्कृतिक विकास के अन्तर्गत इस भावना का अपना विशिष्ट स्थान है। 'सौन्दर्य जीवन' के स्थायी व शाश्वत प्रेरणा स्रोतों में से एक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा-स्रोत है। यह मानव- - संस्कृति का एक सक्रिय तत्त्व है। वास्तविक सौन्दर्य-बोध की स्थिति में मनुष्य का अन्तकरण समस्त राग-द्वेषों से मुक्त होकर सर्वत्र एक ही आत्मा के सौन्दर्य का दर्शन करता हुआ अलौकिक आनन्द की स्थिति में पहुँच जाता है। वह 'स्व' - 'पर' की भावना से पूर्णतः मुक्त हो जाता है। 'मनुष्य' जब सर्वथा निरपेक्ष होकर वस्तुओं को देखता है तभी वह सौन्दर्य का सच्चा रूप देख सकता है। यह मानसिक उदात्तता ही संस्कृति का प्राण है । सुन्दर विचारों की अभिव्यक्ति ही सुन्दर कर्मों में होती हैए जिससे एक स्वस्थ सन्तुलित तथा गरिमामय सांस्कृतिक वातावरण का निर्माण होता है। 'सौन्दर्य' व्यवस्था में है, सानुपात निर्मित है, संतुलित अनुक्रम में है, सामंजस्य में है। यही सानुपात व्यवस्था जब शारीरिक सावयवों के साथ-साथ अन्तःकरण में भी उदय हो जाती है तो सांस्कृतिक सौन्दर्य भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, क्योंकि सुन्दर परिमार्जित विचार एवं आचार ही संस्कृति है। सौन्दर्य के साम्य में सत्य और शिव दोनों का सन्निवेश रहता है। सौन्दर्य जितना ही सत्याश्रित और मंगलमय होता है, उतना ही वह दिव्य कहलाता है। सत्यं शिवं, सुन्दरम् ही संस्कृति की मूल भावभूमि है। डॉ॰ तिवारी के विचार में तो मंगल और सौन्दर्य इन दोनों में भी 'सौन्दर्य' संस्कृति के रूपों में अधिक स्फुट रहता है। इसीलिए संस्कृति में कला का प्रमुख स्थान रहता है। भक्ति का आचार भी यही सौन्दर्य-भावना है। आराधक अपने आराध्य के अद्वितीय सौन्दर्य की परिकल्पना से मुग्ध होकर ही उसकी आराधना में प्रवृत्त होता है। पुराणों में अवतारवाद की कल्पना की आधारभूमि भी यही बाह्य एवं आन्तरिक सौन्दर्य-भावना है। धर्म की सार्थकता भी कर्म-सौन्दर्य में ही निहित है। प्रकृति तथा ब्रह्म के अलौकिक सौन्दर्य के प्रति कौतूहलपूर्ण जिज्ञासा ने ही विभिन्न अध्यात्म-दर्शनों को जन्म दिया है। भक्ति, धर्म, पुराण तथा दर्शन आदि सभी संस्कृति के उपजीव्य तत्त्व हैं, जो सांस्कृतिक क्रिया को अभिव्यक्त करते हुए उसके विकास एवं प्रसार में सहायक सिद्ध होते हैं। सौन्दर्यानुभूति केवल अनुभव का ही विषय नहीं हैए इससे सर्जना के क्षेत्र में भी प्रेरणा मिलती है। विभिन्न ललित कलाएं इसी प्रेरणा का परिणाम है। आदिकालीन बर्बर अवस्था से वर्तमान सभ्य एवं सुसंस्कृत अवस्था तक पहुँचने की प्रक्रिया में मानव का सौन्दर्य-बोध ही निरन्तर क्रियाशील रहा हैं परिष्कृत मानसिक रुचि के मूल में जहाँ सौन्दर्य-

बोध निहित है, वहाँ सत्य एवं शिव से मण्डित सौन्दर्य बोध के विकास का आधार सुसंस्कृत मानवीय अन्तःकरण है। एक ओर जहाँ 'सौन्दर्यानुभूति' की तुला द्वारा उत्कृष्ट स्वीकार की गई अभिव्यक्ति का सामूहिक रूप ही संस्कृति है वहाँ संस्कृति के आधार पर सौन्दर्य-बोध के मापदण्ड भी निरन्तर विकसित होते जाते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य-भावना तथा संस्कृति में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

संदर्भ सूची:

1. डॉ॰ बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन
2. वाचस्पति गैरोला, भारतीय दर्शन
3. सम्पा॰ रामचन्द्र वर्मा, मानक हिन्दी कोश (तीसरा खण्ड)
4. गंगाधर भट्ट, संस्कृत काव्य में नीति- तत्त्व
5. सम्पा० नवल जी, नालन्दा विशाल शब्द सागर
6. दे० सम्पा॰ कालिका प्रसाद, बृहत् हिन्दी कोश
7. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, साधना
8. डॉ. बलदेव मिश्र, भारतीय संस्कृति
9. डॉ॰ रामानन्द तिवारी, सत्यं शिवं, सुन्दरम्
10. यशदेव शल्य, संस्कृति मासनव कर्त्तव्य की व्याख्या
11. डॉ॰ रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, जयशंकर प्रसाद : वस्तु और कला
12. डॉ॰ मुंशीराम शर्मा, वैदिक संस्कृति और सभ्यता